

ऐतिहासिक किसान आन्दोलन....

पेज पांच का शेष

है। 1991 में शुरू हुए 'उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण' के दौर का एक पहलू ये थी कि सरकार ने अपनी वह जिम्मेदारी छोड़ दी, जिसके तहत वह पूंजीपतियों की सारी ज़मात के समग्र अथवा औसत हित-साधन के लिए काम करती थी। पूंजी, अपने से छोटी पूंजी का गला घोटकर ही मोटाती है। फिर भी इस खुली खेल में, मरती-जाती छोटी पूंजी को, किसी तरह जिंदा रखने के लिए, सरकार, एक निष्पक्ष रेफरी की भूमिका अदा करती थी। 1991 के बाद, उसने वह सिटी बजानी भी बंद कर दी और खुला खेल फर्झाबादी शुरू हुआ। जो भी तय होगा, वो बाजार के नियम से ही तय करेगा।

अब उसके बीच सरकार भी क्यों पड़े, कृषि बाजार को नियंत्रित रखने में, सरकार, सबसे ज्यादा दखल देती थी, क्योंकि बगैर जूते के तो कितने ही लोग सारी जिन्दगी निकाल देते हैं, लेकिन बगैर रोटी दो दिन भी नहीं करते। स्वाभाविक है, सबसे ज्यादा कौशलम खेती-किसानी में ही मचना था।

सरकार पूरी तरह बीच में से हट गई, ऐसी बात नहीं। 1991 के बाद सरकार ने पूंजी के, सबसे प्रभुत्वकारी भाग, कॉर्पोरेट वित्तीय पूंजी का ही हित साधने का फैसला कर लिया। आपुत्रिक रूप से छोटी पूंजी की सांसें चलाए रखना जिससे बेरोज़गारी और कंगाली सर्वधार्मी और विकाराल ना बन जाए, इस मशक्कत को सरकार ने छोड़ दिया, क्योंकि यस काम अब लगभग असंभव हो गया था। दादागिरी करना, वित्तीय पूंजी का स्वभाव है। सटेबाज वित्तीय पूंजी के पहाड़ पर बैठे विशालकाय अडानी-अम्बानियों के मुंह से, अब दिखावे की नकल भी उतार कर रख दी गई। समूचे देश में, कहीं भी खुलकर शिकार की हूँट मिलते हीं, सारा खेल बदल गया। पूंजीवाद के एक निश्चित 'विकास' क्रम में ये शुरूआत कांग्रेस ने ही की थी, लेकिन इस नंगी लूट-मार को निर्वाच चलने देने के लिए, बाज़ार के प्रस्थापित नियम-कानूनों को जिस तरह पैरों तले कुचलना था,

कानूनविहीनता को ही कानून बताना था, उसे वह नहीं कर पाई। इसीलिए, कांग्रेस अपने ही आका समाएदारों की नज़रों में गिर गई। अब वे उसकी तरफ देखते भी नहीं। इस काम को करने की प्रतिभा मोदी जी जैसी किसी के पास नहीं नज़र आ रही। इसीलिए, कॉर्पोरेट मीडिया 2047 तक उन्हें ही प्रधानमंत्री देखना चाहता है। कॉर्पोरेट लुटेरे असलियत में जो चाहत हैं, उस अंजेंडे को लागू करने की हिम्मत तो मोदी सरकार भी अपने दूसरे काल में ही जुटा पाई है। 3 कृषि कानून, बने तो सितम्बर 2020 को थे, लेकिन कृषि बाज़ार को नियंत्रित करने के लिए, विशेष रूप से जुड़े अडानी के विशालकाय साइलो 2015 में ही बनने शुरू हो गए थे। लाखों करोड़ रुपये उसमें लग चुके हैं। क्या सरकार, कृषि बाज़ार के कारपोरेटिकरण के गस्ते से पीछे हट सकती है? उत्तर- नहीं। क्या सरकारी अनाज मंडियों के गहरे, निजी मंडियों चल सकती हैं? नहीं। कृषि बिल रद्द करने वाला कानून पास करा कर भी, क्या मोदी सरकार, कृषि बाज़ार में कॉर्पोरेट का प्रवेश रोकती नज़र आती है? नहीं। कोई किसान खुद को कितना भी बड़ा चौथरी क्यों ना समझे, क्या वह अडानी-अम्बानी से प्रतियोगित कर सकता है? नहीं। क्या मोदी सरकार, निर्धारित न्यूनतम मूल्य पर सारी उपज की सरकारी उपज की खरीदी करने की दिशा में एक कंदम भी बढ़ी है? नहीं। क्या उस वकूफ आन्दोलन वापस लेना एक सही निर्णय था, जब सरकार के होश फाखा थे और किसानों की प्रतिष्ठा चरम पर थी? नहीं।

किसानों के अपने घरों की तरफ प्रस्थान करते ही, मोदी सरकार की भाषा बदल गई। ना सिर्फ एमएसपी कमिटी के गठन पर संयुक्त किसान मोर्चे को अनदेखा किया, बल्कि जो काम करने आसान थे, जैसे शहीद किसानों को मुआवजा देना, किसानों के खिलाफ दर्ज हुए मुकदमे वापस लेना, लाखोंपुर खीरी हत्याकांड के सूत्रधार मंत्री को बरखाशत करना आदि पर भी आगे बढ़ने को तैयार नहीं। मतलब, वह किसानों को गंभीरता से लेती भी नहीं दिखना चाहती। किसानों की यह जीत उड़ेखनीय है लेकिन आन्दोलन के पहले चरण की, सीमित जीत ही है। इस बचाए रखने के लिए भी किसानों को आगे लगातार लड़ते रहना होगा।

पहले भी हम जीते थे, आगे भी हम जीतेंगे।

देश की मौजूदा स्थिति ये है कि आज, समाज का कोई भी हिस्सा अपनी सीमित लड़ाई भी, सही माने में नहीं जीत सकता। 'किसान' एक जटिल समूह है। इसमें वे किसान भी शामिल हैं जो बड़े बड़े फार्मों के मालिक हैं और जो खुद खेती नहीं करते। साथ ही वे मेहनतकश किसानों के बड़े तबके और खेत मजदूरों का ना सिर्फ़ शोषण करते हैं, बल्कि जातिगत व पिप्रसात्मक जुल्म करना भी अपना अधिकार समझते हैं। कॉर्पोरेट भेड़िया उन्हें भी उनकी ओकात बता देगा, वे जानते हैं, वे अकेले, कोई लड़ाई नहीं लड़ सकते, इसीलिए सरे 'अन्नदाताओं' को एक करने में लगे हैं। पंजाब में किसान आन्दोलन ने जन्म लिया और देश भर में फैला। लेकिन, उसी पंजाब में आन्दोलन के समाप्त होने से पहले ही, खेत मजदूरों को निश्चित मजदूरी देने की बजाए, उन्हें डरा-धमकाकर, धौंस दिखाकर बलपूर्वक काम लेने की कई घटनाएँ प्रकाश में आईं। अधिकतर किसान (86%), इतनी छोटी ज़मीन के मालिक हैं कि वे उसमें जिंदा नहीं रह सकते। इन ज़मीनों पर भी इन्हीं धनी किसानों की गिर्द दृष्टि गढ़ी रहती है।

किसान एकता, कामयाबी की ज़रूरी शर्त है। ये एकता, लेकिन, बगैर किसी सिद्धांत के नहीं हो सकती। एकीकृत समाज में, आपस में भी जो शोषण-दमन है, उसे बिलकुल नज़रंदाज नहीं किया जा सकता। वर्ता ये एकता, शोषण को ढकने का एक नया औज़ार बन जाएगी। एक 'थंब रुल' बनाना होगा। हर स्तर पर हो रहे शोषण- दमन में, सारे एकीकृत समाज को, आर्थिक हो या जातिगत, दोनों स्तरों पर, शोषित-दमित समुदाय के साथ और शोषक-उत्पीड़क के खिलाफ, डटकर और खुलकर खड़ा होना होगा। इसे एक मूलभूत सिद्धांत बनाना होगा जिसका कोई भी उल्लंघन, उलंघनकर्ता को संयुक्त मोर्चे से दूर कर देगा। इसके बगैर लम्बी, निर्णयक लड़ाई, सही दिशा में, नहीं लड़ी जा सकती। धनी किसान को अगर 'चौथरी' की जगह कॉर्पोरेट का 'मुंरी' बन जाने का डर सता रहा है, जो कि एक हकीकत है, तो उसे अपनी सभी किस्म की हेंकियों, पेंतराजियों से बाज़ आना होगा। अगर वह ऐसा नहीं करता, तो संयुक्त किसान मोर्चे को खुद उसे बाहर को रास्ता दिखाना होगा। गेहूं से भूसा अलग होना बहुत ज़रूरी होता है, वर्ता वह गेहूं को भी सड़ा देगा। अलग होते ही इन 'चौथरियों' को अपनी हाँसियत और मोदी सरकार की असलियत, दोनों समझाएँ आ जाएंगी। कॉर्पोरेट का डर दिखाकर भी, अपने से छोटे का खून चुसने की इजाज़त नहीं दी जा सकती। आधारभूत नियम-शोषित के साथ, शोषक के खिलाफ़; कई समझाएँ नहीं; चाहे मोर्चे के अन्दर की बात हो चाहे बाहर की।

भले सरे किसान एक हो जाएँ, किन्तु भी दिन सीमाओं पर ताल ठोककर क्यों ना बैठे रहें, वे अपनी मुक्ति की लड़ाई नहीं जीत सकते। पूंजीवाद विरोधी समाजवादी क्रांति के, फैसलाकुन मुक्ति संघर्ष की रहनुमाई की जिम्मेदारी, इतिहास ने सर्वहारा वर्ग को दी है। वही वर्ग है जो अपनी नैसर्गिक गति से बढ़ता जा रहा है, अनुशासित होता जा रहा है। जिसके पास खोने को उनकी ज़मीरों के सिवा कुछ नहीं बचा। बहुत सुखद हकीकत है कि किसान भी इस सच्चाई को स्वीकार करते जा रहे हैं। किसान महापंचायतें अपना स्वरूप बदलकर 'मजदूर किसान महापंचायतें' में रूपांतर होती जा रही हैं। यही है आगे का रास्ता, मुक्ति का सही रास्ता।

निर्णायक संघर्ष की ओर

पेज दो का शेष

तैयार होना या उस मुख्य कड़ी को जोड़ पाना अभी बाकी है, जो एक सिंगल बोर्ड के माफिक कल फिर से होने वाली ठीक ऐसी ही लड़ाइयों को "निर्णायक लड़ाई व संघर्ष" में तब्दील कर देगी। फिर भी इतना तो तय है कि पर्यावरण यह बता रहा है कि मासा सेंट्रल ट्रेड यूनियनों व उनके महासंघों की जगह लेना चाहता है और उसका टैग लाइन "मजदूर वर्ग के निरंतर, जु़ज़ार और निर्णायक संघर्ष" है।

यहाँ कोई सिरफ़िका ही कह सकता है कि "मजदूर वर्ग के एक बड़े हिस्से का इसे जब समर्थन ही नहीं है, तो आह्वान करने से क्या फर्क होता है?" हम बड़ी विनम्रता से यह कहना चाहते हैं - "जी हां, इससे फर्क पड़ता है।" यह वही फर्क है जो कुछ न करने से बेहतर कुछ करने की कोशिश में है; जो अच्छे भविष्य के सपने देखने और जो मौजूद है उसे ही अपना भाव मान कर यथास्थिति को स्वीकार कर लेने में है; जो घोर ना-उम्मीदी में भी उम्मीद से भरी कोशिश करने और चुपचाप चादर ओढ़ सोते रहने में है। कुल मिलाकर यह कहना बेहतर है कि, यहाँ वही फर्क है "जो एक मरे हुए व्यक्ति और जिंदा व्यक्ति में है।"

मासा के घटक संगठनों में, इसके इतिहास में मौजूद कुछ अपवादपूर्ण स्थितियों को छोड़कर, वैसे संगठन हैं जो सिर्फ़ मजदूर वर्ग की अगुआ क्रांतिकारी ताकतों का प्रतिनिधित्व ही नहीं करते हैं, अपितु मजदूर वर्ग के साथ रचने-बसने वाले संगठन हैं और उनकी सीधी लड़ाइयों में शामिल और भागीदार हैं। इसलिए, यह कहा जा सकता है कि अगुआ होने के अतिरिक्त ये मजदूर वर्ग की कुल वास्तविक शक्ति के एक हिस्से का भी वास्तविक प्रतिनिधित्व करते हैं। यह कहा जा सकता है कि अगुआ होने के अतिरिक्त ये मजदूर वर्ग की कुल वास्तविक शक्ति के एक हिस्से का भी वास्तविक प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए, यह किसान सम्पर्क के बाह्य व्यक्तित्व में कुछ खास चीज़ी थी जो अन्यों में नहीं थी। बल्कि ये इसलिए हुआ क्य